INNOVARE JOURNAL OF AYURVEDIC SCIENCES

Vol 1, Issue 3 , 2013

ISSN:2321-6824

Research Article

आयुर्वेद में आहार चिकित्सा का क्षेत्र

साहू दिव्या[1], सिंह रानी[2], द्विवेदी ब्रिज कुमार[3]

[1]जुनियर रेसिडेन्ट ३, सिद्धान्त दर्शन विभाग, आयुर्वेद संकाय,चि.वि.सं., का.हि.वि.वि., [2]असिस्टेन्ट प्रोफेसर, सिद्धान्त दर्शन विभाग, आयुर्वेद संकाय,चि.वि.सं., का.हि.वि.वि., [3]असोसिएट प्रोफेसर, सिद्धान्त दर्शन विभाग, आयुर्वेद संकाय,चि.वि.सं, का.हि.वि.वि.मेल divyashahu30@gmail.com

Received: 10 September 2013, Revised and Accepted: 22 September 2013

ABSTRACT

आहार के समान अन्य कोई भी औषधि नहीं है अर्थात इनके मतानुसार केवल पथ्य आहार के द्वारा ही मनुष्य को निरोगी किया जा सकता है। आहार शब्द का सामान्य अर्थ है कि जो द्रव्य निगला जाए उसे आहार कहते है। प्राणधारियों का प्राण अन्न है, अतः जीवलोक अन्न की ओर दौड़ता है। वर्ण, प्रसन्नता, उत्तम स्वर, ओजा, तेज, जीवन, प्रतिभा, प्रभा, बल, मेधा, सन्तोष आदि गुण अन्न से ही प्रतिष्ठित है।

Keywords: शब्द *आ+हृ+घञ्* धातु से बना है। शब्दकल्पद्रुम काण्ड1

भूमिका

प्रस्तुत शोधपत्र मे आहार के चिकित्सात्मक स्वरूप का अध्ययन किया गया है । आयुर्वेद में औषध एवं आहार का व्यवहार दो रूपों में किया जाता है– प्रथम आहार को रस प्रधान मानकर शरीर के पोषण हेतु तथा द्वितीय औषध को वीर्य प्रधान मानकर विषिष्ट रोग में विषिष्ट आहार के प्रयोग हेतु । चरक संहिता में रस एवं दोषों की विकल्पनाओं की अवधारणा आहार चिकित्सा की ओर दिशा निर्देश देती है। अर्थात् रोगोत्पत्ति प्रक्रिया में *स्थानसंश्रय* के पूर्व आहार द्वारा ही दोषों का शमन किया जा सकता है। इस प्रकार इन अवस्थाओं के लिए आहार मुख्य चिकित्सा हो जाती है। तथा विभिन्न रोगों में पथ्यऽपथ्य के पालन में आहार चिकित्सा सहायक के रूप में होती हैं। कतिपय चिकित्सा विधियों में यथा वाजीकरण, रसायन आादि में आहार मुख्य चिकित्सा के रूप में भी वर्णित है जिसका संग्रह कर विवेचन करना इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य है। काश्यप संहिता में आहार के चिकित्सात्मक स्वरूप को दर्शाते हुए कहा गया है कि–

"न चाहारसमं किन्चिद्भैषज्यमुपलभ्यते।

शक्यतेऽप्यन्नमात्रेण नरः कर्तुं निरामयः।।" का0खि0 4/5

अर्थात् आहार के समान अन्य कोई भी औषधि नहीं है अर्थात इनके मतानुसार केवल पथ्य आहार के द्वारा ही मनुष्य को निरोगी किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे भी आहार द्रव्य है जिन्हें अनुपान के रुप में प्रयोग किया जाता है जैसे दुग्ध, घृत, तक्र, मद्य, आदि। आयुर्वेद में चिकित्सा का पहला सूत्र है *निदानपरिवर्जन* जो मुख्यतः आहार और विहार के रुप में ही होता हैं।

"संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्।।" सु.सं.उ.1/25

विषय सामग्री संकलन

(क) आहार शब्द की व्युत्पत्तिः

आहार शब्द *आ+हृ+घञ्* धातु से बना है। शब्दकल्पद्रुम काण्ड 1

(ख) आहार निरुक्तिः

"आहार्यते गलादधोनीयते इत्याहारः" ....जल्पकल्पतरु

आहार शब्द का सामान्य अर्थ है कि जो द्रव्य निगला जाए उसे आहार कहते है।

(ग) आहार का महत्वः

आहार जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। आहार उस द्रव्य को कहते हैं जो पाचन तंत्र के द्वारा शरीर में पाचित एवं अवशोषित होकर निम्नलिखित कार्यों की सिद्धि में समर्थ हो–

(अ) शरीरस्थ धातुओं की क्षतिपूर्ति करना एवं शरीर के विकास में सहायता प्रदान करना

(ब) ताप या शक्ति का उत्पादन

(क) उपर्युक्त दोनों क्रियाओं का नियमन

इसलिए संपूर्ण आयुर्वेद ग्रन्थों में आहार को प्राणतुल्य कहा गया है यथा–

"प्राणाः प्राणभृतामन्नं लोकोऽभिधावति।" च0सू0 27/349,

"तुष्टि पुष्टिर्धृतिर्बुद्धिरुत्साहः पौरुषं बलम्।

सौस्वर्यमोजस्तेजश्च जीवितं प्रतिभा प्रभा।

आहारादेव जायन्ते एवमाद्या गुणा नृणाम्।।" का0खि0 4/11

अर्थात् प्राणधारियों का प्राण अन्न है, अतः जीवलोक अन्न की ओर दौड़ता है। वर्ण, प्रसन्नता, उत्तम स्वर, ओज, तेज, जीवन, प्रतिभा, प्रभा, बल, मेधा, सन्तोष आदि गुण अन्न से ही प्रतिष्ठित है। शारीरिक व्यापार के लिए जो लौकिक कर्म हैं, स्वर्गगमन के लिए जो वैदिक कर्म किए जाते है और मोक्षसाधक जो कर्म बताये गये है वे सभी कर्म अन्न में ही प्रतिष्ठित है।

आचार्य सुश्रुत ने भी आहार के गुणों का वर्णन इसतरह किया है यथा–

"आहारः प्रीणनं सद्यो बलकृद देहधारकः।।

आयुस्तेजः समुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्धनः।।" सु0चि024/68

आहार शरीर को पुष्ट करता है, शीघ्र बल देता है, देहधारक होता है तथा आयु, तेज, उत्साह, स्मृति, ओज और अग्नि को बढ़ाता है। इसलिए सारा संसार अन्न की याचना करता है। आचार्य काश्यप ने आहार को *महाभैषज्य* की उपमा से विभूषित किया है तथा कहा है कि आहार के बिना व्यक्ति की स्थिति नहीं होती है। यथा–

"भेषजेनोपपन्नेऽपि निराहारो न शक्यते।

तस्मादि्भषग्भिराहारो महाभैषज्यमुच्यते।।" का0खि04/6

इसीप्रकार जीवन की स्थिति बनाये रखने के लिए आहार अत्यन्त आवष्यक है। यथा–

"सर्वभूतानामाहारः स्थितिकारणम्।" का0खि0 4/4

समस्त प्राणियों का प्राण अन्न ही होता है। आचार्य चरक ने सूत्रस्थान के तिश्रैषणीय अध्याय में प्रथम प्राणैषणा बताई है जिसके संचालन हेतु मूल कारण आहार ही होता है। वात, पित्त एवं कफ इन त्रिदोषों को जीवन के स्तम्भ कहा गया है जिन्हें अक्षणषः नियन्त्रित करने वाला प्रथम उपस्तम्भ आहार ही है यथा–

"त्रय उपस्तम्भा इति आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति।" च0सू011/35

इसीलिए अग्रह्यप्रकरण में आचार्य चरक ने अन्न को श्रेष्ठ वृत्तिकर माना है यथा–

" अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठं।" च0सू0 25/40

(घ) रोगोत्पत्ति का एक कारण – आहार

जिस प्रकार आहार सम्पूर्ण प्राणियों की स्थिति का कारण है उसी प्रकार रोगोत्पत्ति का भी कारण आहार को ही बताया गया है यथा–

"आहारसंभवं वस्तु रोगश्चाहार संभवाः।" च0सू0 28/45

आचार्य चरक ने विषमाशन के दुष्परिणामों को बताते हुए कहा है कि बुद्धिमान पुरुष को विषम भोजन से उत्पन्न होने वाले कष्टकारी बहुत से रोगो को देखते हुए जितेन्द्रिय रहकर हितकर द्रव्यों का भोजन करे, मितकर एवं उचित काल में ही भोजन करें यथा –

"हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजि जितेन्द्रियः।

पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्।।"

च0नि0 6/11

पुनः आचार्य ने विषम भोजन को ही शोष का कारण कहा है यथा–

"विषमाशनं शोषस्यायतनमिति"। च0नि0 6/10

इसी प्रकार विरुद्धाहार भी रोग के कारण होते हैं।

(ङ) स्वास्थानुवर्तन हेतु आहार प्रयोग के सामान्य सिद्धान्त

स्वास्थानुवर्तन से तात्पर्य यह है कि ऐसे आहार द्रव्यों का सेवन जिससे स्वास्थ्य की अनुवृत्ति हो अर्थात् स्वास्थ्य बना रहे और जो अजात विकारों को उत्पन्न न होने दे।

"तच्च नित्यं प्रयुन्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते।

अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत्।।" च0सू0 5/3

उपरोक्त प्रयोजन हेतु आचार्य चरक ने नित्यसेवनीय द्रव्यों में षष्टि, शालि धान्य, मुद्ग, सैन्धव, दुग्ध, घृत, यव, मधु, आमलकी आदि द्रव्यों को बताया है। **(च0सू0 5/12)**

स्वस्थानुवर्तन में प्रकृति का भी महत्व है इसीलिए स्वस्थानुवर्तन के लिए आचार्य चरक ने स्वप्रकृति विपरीत आहार विहार का सेवन करने को कहा है। जैसे वात प्रकृति पुरुष को कटु–तिक्त–कषाय रसों का प्रयोग विशेष रूप से वर्ज्य है एवं नित्य मधुर–अम्ल–लवण एवं स्निग्ध आहार का सेवन प्रभूत मात्रा में करना चाहिए यथा–

"विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः।

समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यतो।।" च0सू0 7/41

ऋतुचर्या, जो आयुर्वेद की विशिष्ट अवधारणा है, इसमें भी ऋतुनुसार विशिष्ट ऋतु में विशिष्ट आहार सेवन का विधान बताया है जो स्वास्थ्य रक्षण हेतु परमावश्यक है जैसे वसन्त ऋतु में यव, गोधूम, सीधु, माध्वीक, हिरण–शशादि का मांस सेवन प्रशस्त बताया गया है।**(च0सू0 6/25,26)**

(च) आहार विधि

आयुर्वेद में आहार सेवन हेतु कुक्षि को आहार की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया है जिसमें एक खाली भाग मूर्त ठोस आहार के लिए, दूसरा रिक्त भाग द्रव पदार्थों के लिए और तीसरा भाग दोषों के लिए छोडना चाहिए यथा–

"त्रिविधंकुक्षौस्थापयेदवकाशांशमाहार————पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम्।" च0वि0 2/3

इसप्रकार आहार विधि का पालन करने से, पुरुष अमात्रावत् आहार से होने वाले किसी भी प्रकार के अशुभ परिणाम को प्राप्त नहीं होता है।

आचार्य सुश्रुत एवं भावप्रकाशानुसार भोजन के आदि में मधुर रस का मध्य में अम्ल, लवण कटु रस प्रधान द्रव्य का तथा भोजन के अन्त में तिक्त कषाय रस का सेवन करना चाहिए यथा–

"पूर्वं मधूरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ।

पश्चान्छेषान् रसान्वैद्यौ भोजनेष्ववचारयेत्।।" सु0चि046/466, भा.प्र. प्र. भा 5/133

(छ) रस एवं दोष विकल्पना

आयुर्वेद में आहार को रसप्रधान एवं औषधि को वीर्य प्रधान बताया गया है। अतः आयुर्वेद आहार द्वारा चिकित्सा मुख्यरूप से आहारगत रसों के माध्यम से ही की जाती है। इसीलिए आयुर्वेद में छः रसों की विकल्पना द्वारा छः भेद स्थूल रूप से चिकित्सा में सौकर्य के लिए किए गए है। दोषों की भी मानविकल्प भेद से बासठ भेद बताए गए हैं। अतः रसों द्वारा ही दोषों की चिकित्सा होती है यथा–

"यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्यात् दोषविकल्पवित्त्।

न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिंगोपशान्तिषु।।" च0सू026/27

अर्थात् रसों की बासठ विकल्पनायें दोषों की बासठ अवस्थाओं की चिकित्सा हेतु कही गई है। दोषों की एक अवस्था विषेश की चिकित्सा के लिए रसों की एक विशिष्ट विकल्पना होती है। रसों की अंतिम 63वीं विकल्पना का महत्त्व छः रसों के एक साथ प्रयोग द्वारा स्वास्थरक्षण में है।

(ज) रोगनिदान में आहार की भूमिका

आयुर्वेद में प्रत्येक रोग का निर्णय निदानपन्चक द्वारा ही किया जाता है यथा निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं संप्राप्ति।इसमें भी उपशय द्वारा जो रोगनिदान किया जाता है, वह औषध, आहार एवं विहार पर निर्भर करती है यथा–

"उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहार–

विहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः।।" च0नि0 1/10

अर्थात् उपशय में हेतु, व्याधि एवं उभय हेतुव्याधि विपरीत तथा विपरीतार्थकारी आहार, औषध एवं विहार का सुखावह उपयोग कराया जाता है। आहार द्वारा उपशय में श्रमजनित वातज्वर में मांसरस के साथ भात का सेवन यह हेतुविपरीत आहार है तथा पच्यमान व्रणशोथ में विदाही अन्न आदि हेतु विपरीतार्थकारी आहार का उदाहरण है। इसीतरह व्याधिविपरीत, विपरीतार्थकारी एवं उभय हेतु व्याधि विपरीत एवं विपरीतार्थकारी आहार का भी विचार किया जाता है।

(झ) आहार द्वारा चिकित्सा

रसायन में आहार चिकित्सा

रसायन चिकित्सा में भी आचार्य चरक ने कुछ आहार योगों को औषध रूप में दिया है जैसे दुग्ध,घृत आदि। भल्लातक योग में भल्लातक क्षीर, क्षौद्र–पलल–सक्तु–लवण–तैल–गुड़भल्लातक आदि। अष्टांग आयुवेद में रसायन एक स्वतंत्र एवं महत्वपूर्ण अंग है। इसके दो उद्देष्य है–जरानाशन एवं व्याधिनाशन। रसायन को परिभाषित करते हुए स्पष्ट कह दिया गया है कि जिस आहार एवं विहार से शरीर की रसरक्तादि धातूऍं प्रशस्त होती है उसे रसायन कहते है यथा–

"लाभोपायो हि शस्तानां रसादिनां रसायनं" च0चि0 1/1/8

रसरक्तादि धातुओं कि उत्पत्ति, स्थिति आदि पूर्णतः आहार पर ही निर्भर है। जो हम आहार लेते है उन्हीं से रसरक्तादि धातुओं का निर्माण एवं पोषण होता है। यदि धातु निर्माण में या धातू पोषण में आहार के अतिरिक्त अन्य कारण प्रभाव डालते हो तो उनके लिए रसायन औषधियों का प्रायः प्रयोग किया जाता है परंतु जहा प्रशस्त धातु निर्माण या धातुओं कि क्षतिपूर्ति करनी हो वहा आहार की आवश्यकता होती है। वैसे तो लिए जाने वाले समस्त आहार रसायन ही है परंतु कतिपय विशिष्ट स्थितियों में एवं विशिष्ट द्रव्यों कों रसायन की संज्ञा दी जाती है तथा दैनिक जीवन में उनका उपयोग भी रसायन आहार रूप में किया जाता है यथा क्षीर, घृतादि। रसायन आहार का उपयोग प्रायः दो रूपों में किया जाता है प्रथम दैनिक आहार रूप में तथा विशिष्ट आहार के रूप में। विशिष्ट आहार शरीर के धातुओं की आवश्यकतानुसार ग्रहण किया जाता है। इस विशिष्ट आहार को भी दो रूपो में ग्रहण किया जाता है –प्रथम रोगानुसार विशिष्ट आहार रूप में जैसे पथ्यापथ्य, दूसरा औषधयोग के रूप में आहार का उपयोग। आज की भाषा में इसप्रकार के रसायन को सहायक आहार की श्रेणी में रखा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पोषक तत्व धातु निर्माण में या धातू पोषण के लिए दैनिक आहार से नही प्राप्त हो रहे हो उनको विशिष्ट रुप में ग्रहण कर उन आवश्यकता की क्षतिपूर्ति हो जाती है यथा च्यवनप्राश रसायन। वस्तुतः च्यवनप्राशादि कोइ औषध न होकर विशिष्ट आहार ही है। यही आहार की विशिष्टता है।

वाजीकरण में आहार चिकित्सा

आचार्य चरक ने वाजीकरण अध्याय के अन्तर्गत वाजीकारक योगों में मुख्यरूप से आहार कल्पना का ही प्रयोग किया है। जैसे दधिसर, उतकारिका, षष्टिकौदन, पायसयोग, माषयोग माहिषरस, भक्ष्य इनके एक–एक योग, घृत, पूपलिका, मांस, मांसरस इनके चार–चार योग तथा क्षीर के ग्यारह योग यथा–

आहार योग	प्रथम पाद	द्वितीयपाद	तृतीयपाद	चतर्थपाद	कुल
घृत	1	1	1	1	4
मंस	2	–	–	2(मत्स्यमांस)	4
मंसरस	4	–	–	–	4
पूपलिका	–	1	1	3	4
उत्कारिका	–	–	–	1	1
अण्डरस	4	–	–	–	4
गुटिका	1 (बृंहणी)	1 (बृंहणी)	1 (बृंहणी)	2 (वृष्य, मांस)	5
दधिसर	–	1	–	–	1
षष्टिकौदन	–	1	–	–	1
पायसयोग	–	–	1	–	1
मषयोग	1	–	–	–	1
महिषरस	1	–	–	–	1
क्षीर	–	1	10	–	11
भक्ष्य	–	1	–	–	1
वृष्ययोग	–	–	–	1	
पिण्डरस	1	–	–	1	
स्वरस	–	1	–	–	
वृष्यपिप्पली	–	–	1	–	
मधुकयोग	–	–	1	–	
बस्तियॉं	–	–	–	1	

संशोधन एवं आहार चिकित्सा

आयुर्वेद में चिकित्सा मुख्यरूप से दो बताई गई है यथा संशमन एवं संशोधन चिकित्सा। संशमन द्वारा शरीस्थ कुपित दोषों का औषध, आहार आदि द्वारा शमन किया जाता है तथा संशोधन में कुपित दोषों का बहिर्निर्हरण किया जाता है। आहार का दोनों ही चिकित्सा रूपों में व्यवहार होता है।

पूर्वकर्म एवं आहार

आचार्य चरक ने वमन एवं विरेचन, मुख्य कर्म करने के पूर्व विशिष्ट आहार विधान बताया है यथा वमन कर्म के पूर्व कफोत्क्लेशक आहार एवं विरेचन कर्म के पूर्व कफ अवृद्धिकर आहार।

"ग्राम्यौदकानूपरसैः समांसैरुत्क्लेशनीयः पयसा च वम्यः।।

रसैस्तथा जाङ्गलजैः सयूषैः स्निग्धैः कफावृद्धिकरैर्विरेच्यः।" च0सि0 1/8

अर्थात् वमन कराने योग्य व्यक्ति को एक दिन पूर्व ग्राम्य, औदक अथवा आनूपदेशज पशुपक्षियों के मांस अथवा मांसरस के साथ दूध के प्रयोग से कफ को उभाड़ना चाहिए तथा विरेचन कराने योग्य व्यक्तियों को जांगल प्रदेश में उत्पन्न पशु पक्षियों के स्नेहयुक्त मांसरसों तथा स्नेह युक्त यूषों जो कफ को बढ़ाने वाले न हो, इनका सेवन कराकर मल को उत्क्लेशित कराना चाहिए।

रक्तमोक्षण पश्चात् आहार–

आचार्य चरक ने रक्तमोक्षण पश्चात् रक्त के अधिक निकल जाने पर धातु के क्षय हो जाने से, अग्निमन्द हो जाती है अतः ऐसी स्थिति में कुपित वायु के शमन हेतु विशिष्ट आहार का विधान किया है यथा–

"नात्युष्णशीतं लघुदीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।

तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगाग्निर्विशेषेण च रक्षितव्य।।"च0सू0 24/23

अर्थात् रक्तमोक्षण पश्चात् नाधिक उष्ण, नाधिक, शीत, लघु एवं अग्निदीपक, हितकर अन्नपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

संसर्जनक्रम में आहार चिकित्सा

आयुर्वेद में वमन एवं विरेचन कर्म पश्चात् रोगी की प्रवर, मध्यम एवं अवर शुद्धि के अनुसार विषिष्ट आहार कल्पना का संसर्जनक्रम के रूप में विधान है यथा–

"पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिद्विरथैकशश्च।

क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः।।" च0सि0 1/11

अर्थात् पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष, अकृत मांसरस एवं कृतमांसरस का क्रम से तीन, दो या एक अन्नकाल में शुद्धि के अनुरूप सेवन कराया जाता है।

संशमन एवं आहार चिकित्सा

स्नेह प्रविचारणाएँ–स्नेह का विधान दो रूपों में होता है यथा

1. मुख्य चिकित्सा के रूप में

2. पूर्वकर्म के रूप में।

यहाँ पर स्नेह की मुख्य चिकित्सा रूप में व्यवहृत चौबीस प्रविचारणाओं से तात्पर्य है। इन चौबीस में तेरह प्रविचारणाएँ मुख्यरूप से आहार विकल्प रूप में ही है यथा ओदन, विलेपी, मांसरस, मांस, दूध, दहि, यवागू, सूप, शाक, यूष, काम्बलिक, खड़, सत्तू, तिलपिष्ट, मद्य, लेह तथा भक्ष्य। पूर्वकर्म में यथा वमन, विरेचन इन संशोधन कर्म के पूर्वरुप में दीपनपाचन औषधियों सें सिद्ध स्नेहपानका 3,5 या 7 दिनों तक सेवन करने को कहा गया है यथा–

''त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्योक्तः।'' च0सि0 1/6

पथ्यऽपथ्य रूप में आहार

आयुर्वेदिय चिकित्सा में पथ्यऽपथ्य का विशेष महत्व है। चिकित्सा के साथ साथ यदि पथ्यऽपथ्य का पालन न किया जाए तो चिकित्सा का उचित फल प्राप्त नहीं होता है। आचार्यों ने प्रत्येक रोग की चिकित्सा काल तथा रोगमुक्ति पश्चात् भी कुछ अवधि तक इसका सेवन करने को कहा है। इस पथ्य का निर्देश विशेषरूप से आहार तथा विहार रूप में बताया गया है। आचार्य लोलिम्बराज ने वैद्यजीवन में इसका महत्त्व दर्षाते हुए कहा है कि–

"पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधानिषेवणैः।

पथ्येऽसति गदार्तस्थ किमौषधनिषेवणैः।।" वैद्यजीवन 1/10

अर्थात् यदि रोगी पथ्य का सेवन करता है तो वह औषधि के बिना केवल पथ्य के द्वारा ही स्वास्थ लाभ कर लेता है और यदि रोगी पथ्य का सेवन नहीं करता है तो चाहे कितनी ही औषधियों का प्रयोग किया जाए सब व्यर्थ है।

आचार्य चरक ने भी पथ्य की प्रशंसा में कहा है कि–

"काठिन्याद् न भावाद् वा दोषोऽन्तः कुपितो महान्।।

पथ्येमृद्वल्पता नीतो मृद्दोषकरो भवेत्।" च0चि0 30/329

अर्थात् पथ्य सेवन से अधिक रुप में प्रकुपित दोष मात्रा में कम एवे मृदु हो जाने से मृदुदोषकर होते है।

आहार की विशिष्ट कल्पनाएं यथा यूष, यवागू, संस्कारित मांसरस, तक्र, विभिन्न शाको आदि द्वारा पथ्य का निर्देश दिया गया है। जैसे श्वयथू रोग में कुलत्थयूष, मुद्गयूष, शाको में परवल, मूली, गाजर, तथा मांसरसों में विष्किर एवं जांगल प्राणियों का मांस युक्त है, राजयक्ष्मा में चना, मूंग, मोढ का यूष, गुल्मरोग में मूंग का यूष, प्रमेह रोग में मुद्गादि दालों का यूष, तिक्तशाकों के साथ पुराने शालिचावलों का भात, उदररोग में दुग्धपान, मूत्र, रक्तशालि, गोमूत्र, यव, मूंग, मधु, सीधु, सुरा का सेवन, अर्श रोग में कुलत्थ यूष, शुष्कमूली का यूष, बिल्वयूष, शारद षष्टिक यवागू, पेया का प्रयोग पथ्य है। योगरत्नाकर में तो सभी रोगों की चिकित्सा के पश्चात् पथ्यऽपथ्य का निर्देश दिया गाया है एवं कहा है कि–

''बिनाऽपि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव विलीयते।

न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शतैरपि।।'' यो0र0 पूर्वार्ध ज्वर में पथ्यापथ्य"

अर्थात् बिना औषधि सेवन किये भी केवल पथ्य मात्र से रोग नष्ट हो जाते हैं किन्तु कुपथ्य करने पर अथवा पथ्यपालन न करने से सौ प्रकार की औषधि भी सेवन करने से रोग नहीं नष्ट होते है।

आचार्य काश्यप ने तो दोष भेद से पचत्तर यूष बताए है यथा–

'' दोषभेदेन यूषास्ते संख्याताः पन्चसप्ततिः।।'' का0ख04/28

इसप्रकार स्वास्थरक्षण एवं चिकित्सा दोनों में पथ्यऽपथ्य का विशेष महत्व है।

विवेचन

जीवन के तीन स्तम्भ है–वात, पित्त, कफ। मानव की संपूर्ण जैविक क्रियाओं के लिए उत्तरदायि घटक यही तीन है।ये यदि साम्यावस्था **में रहते है अथवा** स्वस्थान में स्वस्वरुप में रहतें है तो मानव की जैविक क्रियाएँ निर्वाद रुप से चलती रहती है। इन तीनों को समस्थिति मे रखने वाले तीन भाव है जिन्हे उपस्तम्भ कहते है। यहॉ उपस्तम्भ का तात्पर्य यह है कि जो स्तम्भ वात, पित्त, कफ को सम बनाए रखे। इन तीनों उपस्तम्भ मे आहार प्रथम है क्योंकि यह स्पष्ट किया गया है कि *'आहारसंभवं वस्तु '* अर्थात् शरीर की स्थिति आहार से ही है। तथा यज्जःपुरुषीय न्याय से रोगो का कारण भी प्रायः आहार ही है।अतः स्वभावतः इस ओर ध्यान आकृष्ट होता है कि शरीर की स्थिति, रोग की उत्पत्ति में आहार की भूमिका है, तो दोषों को प्रकृतिस्थ करने में भी आहार की भूमिका सुनिश्चित है क्योंकि स्वास्थ्य रक्षण एवं चिकित्सा दोनों में ही आहार का विशेष महत्व है इसलिए काश्यप ने सत्य ही कहा है–

''तस्मादिभषग्भिराहारो महाभैषज्यमुच्यते।।" का0ख04/6

आहार को युक्तिकृत बल का कारण कहा गयाा है जो आयर्वुेद के प्रथम प्रयोजन की पूर्ति करता है यथा–

''युक्तिकृतं पुनस्तद् यदाहारचेष्टा योगजम् ।।'' च0सू0 11/36

आयर्वुेद क्योंकि *सर्वपारिषद शास्त्र* है आहार के साथ साथ अन्य भाव भी स्वास्थ्य को बनाए रखने व चिकित्सा में अत्यन्त महत्वपूर्ण होते है। आहार सात्म्य और पौष्टिक होने पर भी यदि तद् संबंधि अन्य निर्देश जो कि पूर्व में बताए गए है का पालन न करने से उसका समुचित फल नहीं मिलता है अतः आहार के महत्व को बनाए रखने के लिए अन्य नियमों का पालन करना चाहिए जैसा कि कहा गया है–

''नरो हिताहार विहार सेवी समीक्ष्यकारी विषयेसु असक्तः।

दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आप्तोपसेवी च।।'' च0शा0 2/46

सारांश एवं निष्कर्ष

आहार जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण बताया गया है। आहार संबंधि जितना वर्णन आयुर्वेद में मिलता है उतना शायद ही किसी शास्त्र में मिलता हो। आयर्वुेद में प्राणियों के जीवन का आधार, बल, वर्ण एवं ओज का कारण आहार को ही माना गया है जिससे आहार का महत्व स्वयं सिद्ध होता है। आयर्वुेद के दो प्रयोजन है, स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोगी के रोग का निवारण ओर आहार के द्वारा दोनों ही प्रयोजन सिद्ध होते है। अतः आहार का विभिन्न रोगों में मुख्य चिकित्सा एवं सहायक चिकित्सा के रूप मे प्रयोग होता है।

संदर्भ सूचि

1. जोशी शास्त्री बेणीमाधव, आयुर्वेदीय शब्दकोश, प्रथम खण्ड, महाराष्ट्र राज्य साहित्य संस्कृत मंडळ, मुंबई, १९६८.
2. त्रिपाठी ब्रह्मानन्द, चरक संहिता, पूर्वार्द्ध, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००६.
3. त्रिपाठी ब्रह्मानन्द, चरक संहिता, उत्तरार्द्ध, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००८.
4. पाण्डेय काशीनाथ, चतुर्वेदी गोरखनाथ, चरक संहिता, प्रथम भाग, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००६.
5. भिषगाचार्य श्रीसत्यपाल, काश्यप संहिता, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००८.
6. मिश्र ब्रह्मशंकर, भावप्रकाश, पूर्वाद्ध, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, एकादश संस्करण, २००७.
7. शास्त्री अम्बिकादत्त, सुश्रुत संहिता, द्वितीय भाग उत्तरतन्त्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००६.
8. शास्त्री श्री ब्रह्मशंकर, योगरत्नाकर, उत्तरार्द्ध, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००८.